

## भारतीय संगीतशास्त्र में मार्ग और देशी का विभाजन

भारतीय संगीतशास्त्र के अध्येता के सम्मुख मार्ग और देशी—संगीत का यह द्विविध विभाजन, अध्ययन के प्रवेशद्वार पर ही उपस्थित हो जाता है। किन्तु आजकल संगीतशास्त्र का अध्ययन जिस रीति से, जिस चित्तवृत्ति से हो रहा है, तदनुसार इस विभाजन को कुछ भी महत्व नहीं दिया जाता और इसे अतीत का अनुपयोगी अवशेष मात्र मान कर इसकी उपेक्षा कर दी जाती है, 'लक्षण' में जो स्थिति है, वही 'लक्ष्य' में भी है, वहाँ भी आज इस विभाजन का कोई स्थान नहीं समझा जाता। किन्तु वास्तव में यह विभाजन हमारे संगीतशास्त्र में मौलिक महत्व रखता है। इस विभाजन के मर्म को समझे बिना यह कहते रहना कि भारतीय संगीत आध्यात्मिक साधना का सशक्त अङ्ग है, कोरा अर्थवाद बन कर रह जाता है और उससे सत्य दर्शन के स्थान पर भ्रमजाल को ही पोषण मिलता है।

'मार्ग' शब्द मृग धातु से बना है, जिसका अर्थ है अन्वेषण (मृग मार्गण)। 'देशी' शब्द की निष्पत्ति दिश् धातु से है जिसका अर्थ है देना या बाहर फँकना (दिश अतिसर्जने)। मार्ग में अन्वेषण का अर्थ स्पष्ट है, किन्तु वह अन्वेषण किस का? इस प्रश्न पर हम कुछ आगे चल कर विचार करेंगे। इतना तो आपाततः स्पष्ट है कि अन्वेषण 'भूमा' का ही अभिप्रेत हो सकता है, 'अल्प' का नहीं। देशी में भीतर से बाहर अतिसर्जन करने का भाव है इसलिये इसमें जन रंजन का प्रयोजन अन्तर्निहित है 'देश' से 'देशी' का सम्बन्ध जोड़ा जाय तो उस में खण्डबोध का अर्थ अनुस्यूत मानना होगा। इन दोनों शब्दों का संगीतशास्त्र में क्या स्थान है, यही प्रस्तुत प्रबन्ध में आलोच्य है।

भारतीय संगीत का शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है, किन्तु वहाँ संगीत का मार्ग और देशी यह द्विविध विभाजन कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं मिलता, यद्यपि हम कुछ आगे चल कर देखेंगे कि इस विभाजन का बीज सूक्ष्म रूप से नाट्यशास्त्र में अवश्य प्राप्त है। इस विभाजन का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख मतंग के बृहद्देशी में मिलता है। इस ग्रन्थ के नाम में ही 'देशी' पद है, इसलिये ऐसा समझा जा सकता है कि इस ग्रन्थ के रचना-काल (१००-६०० ई० के मध्य) तक मार्ग और देशी का विभाजन बहुत स्पष्ट रूप से स्वीकृत हो चुका होगा, और इसमें देशी के निरूपण के प्रति अधिक अभिनिवेश रहा होगा। संपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध न होने से और उपलब्धांश का पाठ बहुत खंडित होने से उक्त अनुमान की पूर्ण पुष्टि करना तो संभव नहीं है, किन्तु ग्रन्थ के प्रारंभ में ही देशी और मार्ग का जो उल्लेख मिलता है, वह अवश्य ही सूचक है।

'बृहद्देशी' के बाद प्रायः १५ वीं शताब्दी तक यह विभाजन संगीतशास्त्र के सभी प्रमुख ग्रन्थों में मौलिक स्थान पाता रहा। किन्तु १५ वीं शताब्दी के बाद इसका महत्व घटने लगा, या तो इसका

केवल नामोल्लेख ही ग्रन्थों में रह पाया और या उसका भी लोप हो गया। 'बृहदेशी' के परवर्ती ग्रन्थों को मार्ग-देशी-विभाजन की दृष्टि से निम्नलिखित चार श्रेणियों में रखा जा सकता है।

### १. मार्ग और देशी विभाजन का स्पष्ट उल्लेख एवं पूर्ण निर्वाह करने वाले ग्रन्थ

इस श्रेणी के अन्तर्गत ग्रन्थों में गीत, वाद्य और नृत्य। संगीत के इन तीनों अंगों का मार्ग और देशी के रूप में द्विविध विभाजन किया गया है। गीत के प्रसंग में राग का ग्रामराग और देशीराग के रूप में एवं गीत प्रबन्ध का शुद्ध गीतक और (देशी) प्रबन्ध के रूप में द्विधा विभाजन हुआ है। वाद्य के प्रसंग में मार्ग और देशी का विभाजन कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है, इसका कारण यही हो सकता है कि भारतीय परम्परा में वाद्य गीत का अनुवर्ती-मात्र है, इसलिये गीत के प्रसंग में रागों का जो द्विधा विभाजन हुआ है, वही तत और सुषिर वाद्यों को भी अविकल रूप से लागू हो जाता है। ताल प्रकरण में मार्ग-ताल और देशी-ताल ऐसा विभाजन किया गया है। इसका सम्बन्ध परोक्ष रूप से घन और अवनद्ध वाद्यों के साथ समझा जा सकता है। जहां तक वाद्य यंत्रों का सम्बन्ध है, ऐसा कोई निर्देश कहीं नहीं मिलता कि अमुक वाद्य मार्ग संगीत के उपयोगी है और अमुक देशी संगीत के। वास्तव में ऐसा निर्देश आवश्यक भी नहीं है। केवल मार्गपटह और देशीपटह इस प्रकार पटह (अवनद्ध वाद्य विशेष) के दो सविशेषण भेद कहे गये हैं। (दृष्टव्य संगीतरत्नाकर वाद्याध्याय, श्लोक ८०५)। नृत्य के प्रकरण में मार्ग नृत्य और देशी नृत्य यह दो भेद स्वीकृत हैं।

प्रस्तुत श्रेणी के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम प्रमुख हैं।

(१) नान्यदेव का भरतभाष्य (१२ वीं शती ई०) इसका प्रारम्भिक अंश ही अभी प्रकाशित हुआ है। पूरे ग्रन्थ की पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है। जो कुछ उपलब्ध है, उसमें देशी रागों का पृथक् निरूपण नहीं है, मार्ग रागों की 'भाषाओं' के साथ-साथ ही कुछ ऐसे रागों का वर्णन मिलता है जो अन्य ग्रन्थों में देशी कहे गये हैं। देशी तालों का वर्णन भी नहीं मिलता। केवल देशी प्रबन्धों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण मिलता है। नृत्य प्रकरण इसमें है ही नहीं।

(२) शाङ्गदेव का 'संगीत रत्नाकर' (१३ वीं शती ई०) इसमें राग, ताल, प्रबन्ध और नृत्य-सभी प्रकरणों में मार्ग देशी का विभाजन प्राप्त है।

(३) पण्डितमण्डली का 'संगीत शिरोमणि' (१५ वीं शती ई०)—यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और पाण्डुलिपियाँ बहुत ही खण्डित हैं।

(४) राणा कुम्भकर्ण (कुम्भा) का 'संगीतराज' (१५ वीं शती ई०)—इसमें विषय-प्रतिपादन संगीतरत्नाकर की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है, अतः मार्ग-देशी का ऊपर लिखे सभी प्रकरणों में विभाजन अधिकतर स्पष्ट है।

### २. मार्ग और देशी के विभाजन का अपूर्ण निर्वाह करने वाले ग्रन्थ

(१) श्रीकण्ठ की 'रसकौमुदी' (१६ वीं शती) केवल ताल प्रकरण में यह विभाजन स्पष्ट मिलता है।

(२) रघुनाथ भूप का 'संगीतसुधा' (१७ वीं शती) केवल राग-प्रकरण में ग्राम-रागों और देशी रागों का परम्परागत निरूपण मिलता है। ताल प्रकरण की प्रतिज्ञा में तो मार्ग देशी का स्पष्ट उल्लेख है, पर वह अध्याय उपलब्ध नहीं है।

## ३. मार्ग और देशी का केवल नामोल्लेख करने वाले ग्रन्थ

- (१) वाचनाचार्य सुधाकलश का 'संगीतोपनिषात्सारोद्धार' (१४वीं शती ई०)
- (२) रामामात्य का 'स्वरमेलकलानिधि' (१६वीं शती ई०)
- (३) दामोदर पण्डित का 'संगीतदर्पण' (१७वीं शती ई०)
- (४) तुलजाधिप का 'संगीतसारामृत' (१७वीं शती ई०)
- (५) अहोबल का 'संगीतपारिजात' (१७वीं शती ई०)
- (५) सोमनाथ का 'रागविबोध' (१७वीं शती ई०)

## ४. मार्ग-देशी का नामोल्लेख तक न करने वाले ग्रन्थ

- (१) पुण्डरीक विट्ठल का 'सदरागचन्द्रोदय' (१६वीं शती ई०) इनके 'रागमाला' तथा 'राग-मञ्जरी' ग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं, किन्तु वे संगीतशास्त्र के केवल एक देश राग के ही प्रतिपादक ग्रन्थ हैं, इसलिये उनका यहाँ पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है।
- (२) शुभङ्कर का 'संगीतदामोदर' (१६वीं शती)
- (३) श्रीनिवास का 'रागतत्त्वविबोध' (१७वीं शती)

मार्ग-देशी का लक्षण प्रमुख ग्रन्थकारों ने इस प्रकार दिया है :—

- (१) नानाविधेषु देशेषु जन्तूनां सुखदो भवेत् ।  
ततः प्रभृति लोकानां नरेन्द्राणां यदृच्छया ॥१॥  
× × × ×  
देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनिदेशीति सञ्ज्ञितः ॥२॥  
ध्वनिस्तु द्विविधः प्रोक्तो व्यक्ताव्यक्तविभागतः ।  
वर्णोपलम्भनाद् व्यक्तो देशीमुखमुपागतः ॥१२॥  
अबला बालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया ।  
गीयते साऽनुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ॥१३॥  
निबद्धाश्चानिबद्धश्च मार्गोऽयं द्विविधो मतः ।  
आप्ला (ला) पादिनिबन्धोयः स च मार्गः प्रकीर्तितः ॥१४॥  
आलापादिविहीनस्तु स च देशी प्रकीर्तितः । (बृहद्देशी पृ० १, २)

इस उद्धरण की अन्तिम पंक्ति बृहद्देशी के मूलपाठ में नहीं है, सोमनाथ ने अपने राग-विबोध के प्रथम अध्याय के श्लोक ७ पर टीका में मतंग के नाम से जो उद्धरण दिया है, उसमें से यह पंक्ति ली गई है।

- (२) गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते ।  
मार्गो देशीति तद्द्वेषा तत्र मार्गः स उच्यते ॥  
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः ।  
देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदयप्रदः ॥

देशे देशे जनानां यद् रुच्या हृदयरञ्जकम् ।

गीतं च वादनं नृत्तं तद्दृशीत्यभिधीयते ॥ (संगीतरत्नाकर १/१/२१-२४)

(३) सामवेदात्समुद्धृत्य यद्गीतमृषिभिः पुरा ।

सद्भिराचरितो मार्गस्तेन मार्गोऽभिधीयते ॥

संस्कृतात्प्राकृतं तद्वन् प्राकृताद्देशिका यथा ।

तद्वन् मार्गत्स्वबुद्धान्यैर्वाग्देशीयं समुद्धृता ॥ (भरतभाष्य ११/२)

इन तीनों उद्धरणों का सम्मिलित सारांश मार्ग और देशी-विभाजन के निम्नलिखित दो आधार प्रस्तुत करता है ।

१—प्रयोजनगत—जिसके अनुसार देशी का प्रयोजन जनरंजन है और मार्ग का अभ्युदय ।❧

२—स्वरूपगत—इसके अनुसार 'मार्ग' शुद्ध और नियमबद्ध है और देशी अपेक्षाकृत अशुद्ध और नियमरहित है ।

इस प्रसंग में प्रयोजनगत और स्वरूपगत भेद की कुछ सामान्य चर्चा अस्थानीय न होगी । सभी पदार्थों के दो पहलू होते हैं । एक वस्तुगत धर्म जो प्रयोक्ता अथवा ग्राहक की निष्ठा से निरपेक्ष हैं, दूसरे प्रयोजनगत धर्म जो ग्राहक अथवा प्रयोक्ता की निष्ठा के सापेक्ष है, अर्थात् उसी के अनुस्तर प्रकाशित होते हैं । किसी पदार्थ में प्रथम पहलू प्रबल होता है तो किसी में दूसरा । उदाहरण के लिये, विष का मारक धर्म वस्तुगत है । विष का सेवनकारी उसे मारक समझे अथवा संजीवक, विष का मारक धर्म दोनों अवस्थाओं में समान रूप से कार्य करेगा । (मीरा जैसे भक्तजनों को विष से भी संजीवनी प्राप्त होने के अलौकिक उदाहरण इस सामान्य नियम की परिधि के बाहर हैं) । दूसरी ओर औषधि का वस्तुगत धर्म जो भी हो, उसका प्रकाश सेवनकर्ता की निष्ठा पर काफी मात्रा में निर्भर रहता है । सामान्य भोज्य पदार्थों का वस्तुगत धर्म भी भोजन कराने वाले और करने वाले की भावना के अनुसार बहुत कुछ स्वतंत्र रूप से प्रकट होता है । होटल में प्राप्त परम पौष्टिक भोजन भी पुष्टि और तुष्टि के विधान में माता के दिये हुए रूखे-सूखे भोजन की समता नहीं कर सकता । इस प्रकार सभी स्थूल लौकिक पदार्थों में वस्तुगत धर्म प्रबल होने पर भी उसका प्रकाशन सर्वत्र एकसा नहीं होता ।

जो कुछ स्थूल पदार्थों के विषय में कहा गया वह सूक्ष्म विषयों में और भी अधिक लागू होता है । ललित कलाओं को ही ले लें, उनके द्वारा सौन्दर्यबोध, भावबोध अथवा रसबोध ग्राहक के संस्कार, शिक्षा, भावनात्मक स्तर इत्यादि अनेक आश्रयगत तत्त्वों पर निर्भर रहता है जिन्हें विषयगत धर्म से निरपेक्ष माना जा सकता है । काव्य, संगीत, चित्र अथवा मूर्ति—इन कलाओं की एक ही कृति भिन्न भिन्न स्तर की अनुभूति जगाती है । उन कलाकृतियों में विषयगत स्तरभेद न हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु ग्राहक गत स्तरभेद ही यहां प्रस्तुत है । जिस प्रकार कलाजगत् में ग्राहक का स्तरभेद वस्तुगत धर्म के प्रकाशन में

❧ 'अभ्युदय' से यहाँ आध्यात्मिक उन्नति का ही ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा देशी से मार्ग का कुछ वैशिष्ट्य स्थापित न हो सकेगा । जहाँ 'निःश्रेयस्' और 'अभ्युदय' को परस्पर भिन्न कहा जाता है वहाँ 'अभ्युदय' लौकिक उन्नति का वाचक माना जाता है । किन्तु यहां वह अर्थ लेना उचित नहीं जान पड़ता ।

साधक अथवा बाधक होता है, उसी प्रकार प्रयोक्ता यानी स्रष्टा का मनःपूत प्रयोजन भी कलाकृति के वस्तुगत स्तरभेद का नियामक होता है। अर्थ, यश, कामना-पूर्ति आदि लौकिक प्रयोजनों से की गई कला-साधना अथवा कलासृष्टि प्रयोमार्ग में ही प्रगति करा सकेगी, यद्यपि कला के वस्तुगत धर्म में श्रेयः प्रदत्त सर्वमान्य है। इस वस्तुगत धर्म का प्रकाशन तभी हो सकता है जब प्रयोक्त की भी उस प्रयोजन में निष्ठा हो अर्थात् श्रेयः से वैराग्य और निःश्रेयस् के प्रति अनुराग हो। इस निष्ठा के अभाव में अलौकिक प्रयोजन की सिद्धि करने का वस्तुगत धर्म कला में प्रकाशित नहीं हो सकता।

ऊपर की चर्चा के अनुसार मार्ग और देशी के लक्षण पर विचार करें तो पहले प्रयोजनगत भेद उपस्थित होता है और बाद में स्वरूपगत। जन-मन-रंजन का प्रयोजन देशी में और निःश्रेयस् का प्रयोजन मार्ग में है, साथ ही दोनों के वस्तुगत धर्म अथवा स्वरूप की विभिन्नता कही गयी है, जिसके अनुसार मार्ग शुद्ध और नियमित है एवं देशी अशुद्ध अथवा मिश्र और अनियमित। इस प्रसंग में भरत भाष्य का ऊपर दिया हुआ उद्धरण विचारणीय है। उसके अनुसार मार्ग के शुद्ध स्वरूप से देशी का आविर्भाव हुआ है। आज-कल विज्ञान के विकासवाद के सिद्धान्त के प्रभाव से प्रत्येक क्षेत्र में निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर अभियान ही स्वाभाविक क्रम माना जाने लगा है। तदनुसार यदि मार्ग शुद्ध एवं नियम सहित है तो स्वयं उसका विकास अशुद्ध और अनियमित देशी के आधार पर होना चाहिए। किन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार शुद्ध की विकृति से अशुद्ध या मिश्र का आविर्भाव माना जाता है। तदनुसार देशी को मार्ग का अशुद्ध रूप मानने में कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती। चेतना के उच्चतम स्तर पर जो आविर्भाव होता है, उसी में नाना प्रकार की उपाधियों के मिश्रण से अशुद्ध रूप प्रकट होते हैं, यह अवरोह-मार्गीय विचारधारा है। दूसरी ओर आरोह-मार्गीय विचारधारा के अनुसार अशुद्ध स्तर पर से अशुद्धि का निरास करते हुए क्रमशः शुद्ध स्तर तक विकास होता है। स्थूल बुद्धि से भले ही आरोह-मार्गीय विचार ही संगत जान पड़े, किन्तु वास्तव में सभी विकृतियों, अशुद्धियों के मूल में परम विशुद्ध अविकृत तत्त्व माने बिना गति नहीं है। तदनुसार संस्कृत से प्राकृत का और मार्ग से देशी का आविर्भाव मानना पूर्णतया संगत है।

ऊपर हमने जिन तीन उद्धरणों पर विचार किये उनके अतिरिक्त कुछ अन्य उद्धरण भी यहाँ प्रसंग प्राप्त हैं—

१—गान्धर्व और गान के प्रकरण में—

अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा प्रीतिकरं पुनः ।

गन्धर्वाणाञ्च यस्माद्धि तस्माद् गान्धर्वमुच्यते ॥

अस्य योनिर्भवेद् गानं वीणावंशस्तथैव च । (नाट्य शास्त्र २८ । ६, १०)

सामम्यो गीतमिति कथितं सामानि चात्र कारणकारणानि । गान्धर्वं हि सामभ्यस्तस्माद् भवं गानं न तुल्ये स्वराद्यात्मकत्वे गानं गान्धर्वेऽन्तर्भूतमिति का भाषा । विपर्ययोऽपि कस्मान्न भवति, तादात्म्यमेव वा कथं न स्यादित्याशंकां शमयितुमाह अत्यर्थमिष्टं देवानामिति । अनेनादित्वं सूचितम् । देवाहि कथमिष्टं विजह्युः । तथेति तेन देवतापरितोषद्वारेण प्रीतिं ददातीत्यहृष्टफलत्वं दर्शितम् । ..... तथा तेन प्रकारेण प्रतीतेरपवर्गोचितानन्द स्वभावविशेषणावर्जित मित्यपवर्गफलत्वं दर्शितम् । तथाऽतिक्रान्तं घनादिनिरपेक्षं चेदं देवानां यजनं यथा पूराणयोगादिभ्योऽधिका प्रीतिर्गान्धर्वाच्छङ्करस्येति । गन्धर्वाणामिति

प्रयोक्तृवलक्षणं. तेन ह्यत्यन्तं संवितप्रवेशलाभेन तु गातुः फलयोगो गन्धत्वात्..... इति प्रयोक्तृगतमत्र मुख्यं फलम् । न तु गानमिव मुख्यतया श्रोतृनिष्ठम् । गानं हि केवलं प्रीतिकार्यं वर्तते

(अभिनव भारती)

पूर्वरङ्गादावदृष्टसिद्धौ संयतगीतकवर्द्धमानादि प्रयुज्यते ।  
ध्रुवागाने तु दृष्टफले गायनस्येव सोऽस्तु व्यापारः ।

(अभिनव भारती नाट्य शास्त्र चतुर्थ खंड पृ. १५२)

नाट्य शास्त्र में मार्ग-देशी का उल्लेख नहीं है, किन्तु संगीत के लिये 'गान्धर्व' संज्ञा है जो बाद में चल कर गीत-प्रबन्ध के प्रकरण में मार्ग की पर्यायवाची बन गई थी (दृष्टव्य संगीत-रत्नाकर का निम्न उद्धरण) । 'गान्धर्व' को देवताओं का अत्यन्त इष्ट अर्थात् प्रिय बताया गया है । अभिनवगुप्त ने उसे दृष्टादृष्ट-फलप्रद कहा है और उस के फल को मुख्यतया प्रयोक्तृगत बताया है । दूसरी ओर 'गान' का फल मुख्यतया श्रोतृ-निष्ठ कहा है । यहीं पर मार्ग और देशी का मूल तत्व मिल जाता है । मार्ग आत्मनिष्ठ होने से उसमें मुख्य-फल प्रयोक्ता को ही मिलता है और देशी में श्रोता के प्रति लक्ष्य रहने के कारण उसका फल मुख्यतया श्रोतृनिष्ठ अर्थात् श्रोताओं का रंजनमात्र होता है । पुनः ३१ वें अध्याय में जहाँ भरत ने शुद्ध गीतकों के प्रकार कहे हैं वहाँ भी अभिनवगुप्त ने वर्द्धमानादि शुद्ध गीतकों को अदृष्ट-फल-प्रद बताया है और ध्रुवागान को दृष्ट-फल-प्रद । भरत के परवर्ती काल में शुद्ध गीतक मार्ग का अंग माने गये और ध्रुवाओं के आधार पर देशी प्रबन्धों का विकास हुआ । इस प्रकरण में भी मार्ग और देशी के बीज नाट्यशास्त्र में मिल ही जाते हैं ।

२—गीत-प्रबन्ध प्रकरण में—

रञ्जकः स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते ।  
गान्धर्वं गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम् ॥१॥  
अनादिसम्प्रदायं यद्गान्धर्वैः संप्रयुज्यते ।  
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद्गान्धर्वं जगुर्बुधाः ॥२॥  
यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम् ।  
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरञ्जनम् ॥३॥

(संगीतरत्नाकर ४ / १-३)

३—राग-प्रकरण में—

देशीत्वं नाम कामचारप्रवर्तितत्वम् ।  
तदत्र मार्गरागेषु नियमः यः पुरोदितः ।  
स देशीरागभाषादावन्यथापि क्वचिद् भवेत् ॥

(वही, २/२/२ पर कल्लिनाथ की टीका)

४—नृत्य-प्रकरण में—

नाट्यं मार्गञ्च देशीयमुत्तमं मध्यमं तथा  
अधमं क्रमतो ज्ञेयं नृत्यत्रितयमुत्तमैः ॥२८६॥

नृतेः क्यप्रत्यये नृत्यशब्दः कर्म विवक्षया ।  
 भावोपसर्जनी यत्र रसो मुख्यः प्रकाशते ॥४४५॥  
 तन्नाट्यपूर्वकं नृत्यं मार्गनृत्यं तदुच्यते ।  
 रसोपसर्जनीभूतो यत्र भावः प्रकाशते ॥४४६॥  
 मार्गो भावाभिघस्तस्मान्मृग्यतेऽत्र रसो पतः ।  
 नाट्यमार्गोपाधिभिन्नं द्विधा नृत्यमुदीरितम् ॥४४७॥  
 नृतेः क्तप्रत्यये रूपं देशीनृत्तमिहोदितम् ॥४४८॥  
 नन्वत्र प्रत्ययैकार्थं मार्गं देशीति का भिदा ।  
 उच्यतेऽत्र तदैक्येऽपि यो यत्र विनियुज्यते ।  
 विवक्षावशतो ब्रूते स तमर्थमिति स्थितम् ॥४४९॥  
 पंकजत्वे समानेऽपि लोके पद्ये तदीरितम् ।  
 विवक्षा चात्र शोभायां हस्ते हस्तैकदेशवत् ॥४५०॥  
 नृत्ये नृत्यैकदेशेऽपि नृत्यशब्दाद् द्वयोर्ग्रहः ॥४५१॥

(संगीतराज, नृत्यरत्नकोश, उल्लास १, परीक्षण १)

ऊपर द्वितीय उद्धरण में 'गान्धर्व' को मार्ग का पर्यायवाची मान कर उसे अपौरुषेय कहा गया है, और 'गान' को देशी का पर्यायवाची मान कर उसका पौरुषेयत्व बताया गया है। गीत-प्रबन्धक के प्रकरण में मार्ग-देशी की यह विभाजक रेखा उचित भी है। तीसरा उद्धरण राग के प्रसंग का है। इस में मार्ग से संबद्ध ग्राम-रागों में नियमों की अपरिवर्तनीयता कही गई है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ग्रामरागों का नाट्य के प्रसंग में ही प्रयोग विहित है, किन्तु देशी रागों का प्रयोग नाट्य से स्वतन्त्र कहा गया है। चौथा उद्धरण नृत्य-संबन्धी है, और उस पर विशेष विचार अपेक्षित है।

नृत्य का मार्ग के साथ एवं नृत्त का देशी के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। नाट्य को इन दोनों के ऊपर सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इस स्तर निर्धारण का आधार है—नाट्य में रस की मुख्यता एवं नृत्य में भाव की मुख्यता के साथ-साथ रस का मार्गण अथवा अन्वेषण। नृत्त को देशी क्यों कहा है, इस की कोई स्पष्टता नहीं दी गई है, किन्तु उस में ताल लयाश्रित गात्रविक्षेप मात्र और अभिनय का अभाव बताया गया है। इसीलिये उसमें रस और भाव दोनों की अपेक्षा छोड़ कर केवल ताल, लय का ही प्राधान्य रखा जाता है। यथा—

नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसामिव्यक्तिकारणम् ।  
 चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणवृत्तितो बुधैः ॥१७॥  
 आङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति यत् ।  
 तन्नृत्यं मार्गशब्देन प्रसिद्धं नृत्यवेदिनाम् ॥२६॥  
 गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम् ।  
 आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदुः ॥२७॥

(संगीतरत्नाकरनृत्याध्याय)

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं, नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो, देशी तथाऽपरम् ॥ (दशरूपक १ । ६)

अभिनयरहित एवं केवल ताललयाश्रित होने के कारण नृत्त को तृतीय श्रेणी में स्थान दिया गया है, और इस निम्न कक्षा के कारण ही उसे देशी कहा है। आदिम जातियों के नाचने में आज भी केवल ताल लयाश्रित गात्र-विक्षेप का दर्शन होता है। नाट्य में रस मुख्य होने के कारण आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य चारों प्रकार के अभिनय का उस में स्थान होता है। नृत्य में केवल आंगिक अभिनय से ही भावाभिव्यक्ति की जाती है और रस उतने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पाता जितना कि नाट्य में। इसीलिये उस में रस का मार्गण कहा गया है। नृत्त में तो अभिनय का कोई स्थान ही नहीं है, इसलिये वह देशी है।

नृत्य के रस प्रसंग में मार्ग और देशी का अर्थ आपाततः सामान्य अर्थ से कुछ भिन्न दिखाई देता है, क्योंकि न तो यहाँ नियमों की कठोरता अथवा शिथिलता से अभिप्राय है, न अपौरुषेय और पौरुषेय का भेद है, न दृष्टा-दृष्ट-फल का विचार है और न ही निःश्रेयस् अथवा जनरंजन के प्रयोजन के प्रति लक्ष्य है। किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह समझा जा सकता है कि रस की अलौकिकता के कारण उसका मार्गण नृत्य के मार्गत्व का प्रयोजक है और उस मार्गण के अभाव में केवल लौकिक मनोरंजन नृत्त के देशीत्व का प्रयोजक है।

नाट्य को मार्ग से भी ऊपर रखा गया है। इसका आधार अवश्य विचारणीय है। अभिनव गुप्त ने जैसे साम से गान्धर्व और गान्धर्व से गान की उत्पत्ति बताई है तद्वत् नाट्य को साम के, नृत्य को गान्धर्व के और नृत्त को गान के समानान्तर समझा जा सकता है। सामगायन में सामरस्य की पूर्ण उपलब्धि रहने के कारण उसमें मार्गण व्यापार का कोई स्थान नहीं हो सकता। उससे एक स्तर नीचे उतर कर गान्धर्व अथवा मार्ग का अस्तित्व है, एवं उससे भी निम्न स्तर देशी का है।

मार्ग में अन्वेषण किस तत्त्व का है? इस प्रसंग में याज्ञवल्क्य-स्मृति के निम्नोद्धृत अंश और उन की टीका मननीय है।

अनन्यद्विषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।

ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत् प्रभुः ॥

यस्य पुनरस्मिन् सवितर्कं समाधौ निरालम्बनतया बहिर्मुख्यावभासतिरस्कारेण चित्तवृत्तिनाभिरमते तस्य शब्दब्रह्मोपासनेन ब्रह्मज्ञानाभ्यासात् परब्रह्माधिगमोपायमाह—

यथावधानेन पठन् साम गायत्यविस्वरम् ।

सावधानस्तथाभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

ब्रह्मज्ञानाभ्यासोपायविशेषमाह—

अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा ।

श्रीवेणुकं तु रोविन्दमुत्तर गीतकानि तु ॥

ऋग्माथा पाण्डिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिकाः ।

गायन्नेतत्तदभ्यास कारणांमोक्ष संज्ञितम् ॥



अपरान्तिकादयो भरतशास्त्रोक्तगीत प्रकार विशेषाः ब्रह्मज्ञानाभ्यासहेतोर्ज्ञेयाः । एतेषु गीयमानेषु नादस्य यत् उदयो यत्र च लयस्तदवगन्तव्यम् । तदेव ब्रह्म, ततश्च तज्ज्ञानाभ्यासाय ते गेया इति युज्यते वक्तुम् । अपि च,

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।  
तालज्ञश्चप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥

तत्त्वतो यो वेत्ति सोऽनायासेन मोक्षमार्गं मोक्षोपायभूतमनस एकाग्र्यब्रह्माज्ञाहेतुं निगच्छति । यस्तु वीणादिनादानां यत् उदयो यत्र च लयस्तत्रान्तरेभ्यो विविक्ततया न सम्यग्वेत्ति तं प्रत्याह—

गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम् ।  
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय ३, प्रकरण ४, श्लो. ११०-१५ एवं अपरादित्य विरचिता अपराकारा टीका)

ऊपर उद्धृत वचनों का सारांश इस प्रकार है :—(१) जो व्यक्ति बाह्य आलम्बन के अभाव में चित्त को समाधि में स्थिर नहीं कर पाते, उनके लिए सामगान का विधान है, क्योंकि उसमें परम अवधानयुक्त गायन से परब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। (२) सामगान के ही समकक्ष एक अन्य अभ्यास है और वह है अपरान्तक, उल्लोप्यक आदि गीतों का गायन। स्मरणीय है कि यही भरतोक्त शुद्ध गीतक है+। (३) साम अथवा गीतकों के गायन में अन्वेषण का विषय यही है कि नाद का उदय कहां से होता है और लय कहां होता है यह उल्लेख बहुत महत्वपूर्ण है। नाद का उदय और लय दोनों ही का आधार ब्रह्म है, इसलिये वही मार्ग के अन्वेषण का विषय है। इस पर विशेष विचार अपेक्षित है। (४) यदि नाद के उदय और लय के आधार को तत्त्वतः जाने बिना साम अथवा (देवस्तुतिपरक) गीतक का गान किया जाता है तो प्रयोक्ता परम पद को प्राप्त नहीं होता, अपितु रुद्र का अनुचर बन कर उसी के साथ हर्ष को प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य की इसी उक्ति को अभिनवगुप्त ने नाट्य शास्त्र २८।११ की टीका में यह कह कर उद्धृत किया है कि योग रूप अवधान गीतक के गायन में आवश्यक अथवा उपयोगी नहीं होता। × याज्ञवल्क्य और अभिनवगुप्त का ऐसा अभिप्राय जान पड़ता है कि परमपद-प्राप्ति के लिये गायन के साथ योग-रूप अवधान अनिवार्य है, किन्तु देवता-परितोष उसके बिना भी हो सकता है। देवतापरितोष से यहाँ संभवतः साम अथवा गीतक के गायन के वस्तुगत धर्म के अनुसार होने वाला अदृष्ट फल ही अभिप्रेत है। कहना न होगा कि इस अदृष्ट फल की सिद्धि के लिये भी प्रयोक्ता में तदनुकूल वासना रहना अनिवार्य है।

नाद का उदय और लय कहां है इस सम्बन्ध में आधुनिक ध्वनिविज्ञान की जो स्थापनायें हैं उनमें तीन न्यूनतायें दिखाई देती हैं। १-ध्वनि के ग्राहक के विषय में। यह माना जाता है कि मनुष्य के कान की

+ यहाँ साम से गीतकों को पृथक् कहा गया है, किन्तु बाद में चल कर साम भी गीतकों का ही एक भेदमात्र रह गया। (दृष्टव्य संगीतरत्नाकर, संगीतराज आदि में निरूपित १४ गीतक भेद।)

× अवधानं योगरूपं तच्चात्र नोपयोगि। परिवर्तकेऽवनद्धे—पूर्वरङ्गे, तत्र हि देवतापरितोषादेव सिद्धिः। तदेतदुक्तम्—“गीत ज्ञो यदि……” इत्यादि।

स्रवणशक्ति मर्यादित है, आन्दोलनों की कुछ न्यूनतम और अधिकतम सीमा के भीतर ही मनुष्य का श्रोत्र काम करता है। इस मर्यादा के बाहर असीम क्षेत्र है किन्तु वह मनुष्य के लिये अगम माना जाता है। २-वाहक माध्यम के सम्बन्ध में। ध्वनिविज्ञान द्वारा प्रतिपाद्य ध्वनि पृथ्वी (Solid) जल (Liquid) अथवा वायु (gas) के माध्यम के बिना चल नहीं सकती। वाहनहीन आन्दोलन श्रव्य नहीं होता और वाहन हीनता शून्य (Vacuum) में ही हो सकती है। भारतीय दर्शन के अनुसार संपूर्ण शून्यता असंभव है क्योंकि तथाकथित शून्यता में भी शक्ति का बहुत प्रबल और सूक्ष्म रूप निहित रहता है। हमारे दर्शन में आकाश अथवा व्योम 'शून्य' में ही रहता है। वह सूक्ष्मतम भूत है जो सारे विश्व में व्याप्त है तथा जो Solid, Liquid तथा gas से भी सूक्ष्म है। ३-ध्वनि का लय कहाँ होता है इस का कोई उत्तर ध्वनि विज्ञान के पास नहीं है। विज्ञान अधिक से अधिक यही कह सकता है कि ध्वनि की शक्ति (energy) किसी अन्य शक्ति में परिवर्तित हो गई, किन्तु वह परिवर्तन कैसे कब और किस रूप में होता है इन प्रश्नों का कोई उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। भारतीय दर्शन के अनुसार ध्वनि का उदय और लय आकाश या व्योम में ही है, और उसी में सब ध्वनियाँ अमर रूप में संगृहीत रहती हैं। इसी सूक्ष्म व्योम के अनुसन्धान से परब्रह्म की प्राप्ति की सुगमता ही मार्ग संगीत का आधार है। इस अनुसन्धान के लिये नाद का माध्यम सर्वाधिक सुलभ माना गया है। इसी लिये संगीत को नादयोग कहा गया है। किन्तु इस अनुसन्धान के अभाव में संगीत साधना एक लौकिक कर्म मात्र है। इस नादअनुसन्धान के प्रसंग में निम्नलिखित उद्धरण विशेष उपयोगी होगा।

“हमारे समस्त नादोच्चारण का कोई एक आधार अवश्य है, और वह है ब्रह्माकाश में ज्ञानमय पो रूप मूल स्पन्द। यह मूल स्पन्द अपने को नाद अथवा ध्वनि के रूप में व्यक्त कर रहा है। अवश्य ही यह ध्वनि साधारण श्रव्य ध्वनि नहीं है। यह ध्वनि रूपा सुर-धुनी ध्रुवा व सनातनी है। 'तद् विष्णोः परमं पदम्'—यह है इस ध्वनि का पराभाव। ब्रह्मलोक में जो कुण्ठाहीन दिव्य अनुभूति है, वह है पश्यन्ती भावा हर के जटा जाल में अवगुंठित होने पर मध्यमा और अन्त में भगीरथ के शंख-निनाद से गोमुख से निःसृता होने पर वैखरी होती है। हमारा सब वाग्ग्रवहार रस ध्रुव-धारा के वक्षः स्थल पर वीचिवत् उठ कर पुनः उसी में लीन हो जाता है, इसलिये साधक को मूल-स्पन्द रूपा उस ध्वनि-सुरधुनी ध्रुवा का सन्धान करना होता है।”

(स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती कृत जपसूत्रम्, भाग २, परिशिष्ट, श्लोक ४-१०)

देशी का सम्बन्ध वैखरी से ही है। किन्तु मार्ग में मध्यमा पश्यन्ती और परा का क्रमशः अनुसन्धान आवश्यक हैं। इस प्रसंग में एक भ्रान्त धारणा का निराकरण आवश्यक है। कुछ लोगों का यह विचार है कि मार्ग-संगीत का माध्यम अनाहत नाद है। किन्तु वास्तव में मार्ग उसी संगीत की संज्ञा है जो इन्द्रियजन्य व्यापार के स्तर पर आहत नाद को आलम्बन बना कर निःश्रेयस् प्राप्ति में समर्थ होता है। यदि ऐसा न होता तो तो संगीत शास्त्र के अन्तर्गत उसका वर्णन ही न हो पाता। फिर तो वह अनाहत नाद की भांति केवल योग-शास्त्र का ही विषय रह जाता।

उपसंहार में कुछ विषयों का संकेत-मात्र प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि स्थानाभाव से उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सका है।

(१) मार्ग-संगीत के अन्तर्गत ग्राम-राग, मार्ग-ताल और शुद्ध गीतक—इन विषयों का जो भी निरूपण शास्त्र-ग्रन्थों में मिलता है, उससे यह स्पष्ट है कि ३० अथवा ३२ ग्रामराग ५ मार्गताल और १४ शुद्धगीतक—इन की संख्या अथवा लक्षण में कहीं कोई परिवर्तन नहीं पाया जाता। देशी रागों, तालों, और प्रबन्धों के भेदों की संख्या इन से कहीं अधिक है और उसमें बहुत कुछ न्यूनाधिकता देश-काल-क्रम से पायी जाती है। मार्ग की इस अपरिवर्तनीयता की पृष्ठभूमि में दर्शनशास्त्र तथा आध्यात्मिक साधना के कौन से गूढ तत्त्व हैं, यह अनुसन्धान का विषय है।

(२) मध्ययुग में मार्ग-देशी के विभाजन की जो उपेक्षा अथवा लोप हुआ, तदनुसार देशी का ही वर्गान् ग्रन्थों में मिलता रहा ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है। मार्ग का यह लोप अलौकिक प्रयोजन की दृष्टि से समझा जाय अथवा नियमों की कठोरता की दृष्टि से देखा जाय? संभवतः दोनों दृष्टियों को यथायोग्य स्थान देना उचित होगा, अर्थात् यह भी सत्य है कि उन ग्रन्थों में वर्णित संगीत लौकिक प्रयोजन मात्र का साधक है, और साथ ही यह भी सत्य है कि वह संगीत प्रदेश-विशेष और काल-विशेष द्वारा सीमित है, यानी लक्ष्य-प्रधान है। मार्ग को जो लक्षणप्रधान कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि वह सार्वभौम और सार्वकालिक है।

(३) आधुनिक शास्त्रीय संगीत को मार्ग समझा जाय या देशी? प्रयोजन की दृष्टि से तो इसे केवल देशी ही कहा जा सकता है, हां, नियमों के बन्धन की दृष्टि से इसे मार्ग भी समझ सकते हैं। किन्तु वहाँ भी जिस अंश तक घरानों अथवा प्रादेशिक परम्पराओं के भेद से नियमों में भेद पाया जाता है, वहाँ तक उसके मार्गत्व की हानि ही है। निःश्रेयस साधन की योग्यता का मुख्य आधार तो प्रयोक्ता की अपनी मनोभूमिका है। अपेक्षित मनोभूमिका यदि किसी साधक के पास हो तो आज भी संगीत का मार्गत्व सिद्ध हो ही सकता है। इतना अवश्य है कि विशेष अनुसंधान के बिना, परम्परागत संगीत शास्त्र में से, निःश्रेयस साधक संगीत की अध्यात्मशास्त्रीय व्याख्या प्राप्त करना असंभव सा है। जिस प्रकार अन्य आध्यात्मिक साधनाओं के शास्त्र हैं, जिनमें साधक की क्रमशः उन्नति का, पत्र की बाधाओं का तथा बाधाओं से निराकरण के उपाय का निरूपण मिलता है, वैसे कुछ आज संगीतशास्त्र में दिखाई नहीं देता। इसलिये ऐसा लगता है कि संगीत-साधना को चित्त की एकाग्रता का सुलभ और सुगम उपाय जान कर ही इसे निःश्रेयस जनक कह दिया गया है, और यह मान लिया गया है कि उसके साथ-साथ नाद योग अथवा भक्ति की साधना अनिवार्य रूप से रहेगी ही। संगीत के साधक सन्तजनों अथवा भक्ति-रसिकों के चरित से भी यही निष्कर्ष निकलता है।